Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2025 GISRRJ | Volume 8 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095
doi : https://doi.org/10.32628/GISRRJ

निष्काम एवं अनासक्त कर्म की अवधारणा

डॉ. विनोद कुमार
सह- आचार्य, संस्कृत पालि प्राकृत एवं प्राच्यभाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश।

Article Info
Volume 8, Issue 2
Page Number : 140-145

Publication Issue :
March-April-2025

Article History
Accepted : 05 April 2025
Published : 24 April 2025

सारांशिका - भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों में कर्मसिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त है । कर्म का तात्पर्य क्रिया से है ' कर्मेति क्रियोच्यते'[1]। और क्रिया शारीरिक मानसिक वाचिक कोई भी हो सकती है। जब तक मनुष्य में प्राण है, चैतन्य है तब तक वह उठना, बैठना, श्वास- प्रश्वास लेना, पलक झपकाना, विचार करना आदि स्वाभाविक कर्म करता ही रहता है । लेकिन क्या केवलमात्र इन कर्मों को करते हुए भी मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है? अत: सर्वप्रथम कर्म का स्वरूप व निष्काम कर्म की अवधारणा को समझना चाहिए। वस्तुत: निष्काम कर्म का तात्पर्य यह नहीं कि फल की इच्छा छोड़कर कर्म किया जाए। क्योंकि कर्म के फल की इच्छा का त्याग असम्भव है। यद्यपि निष्काम कर्म तथा अनासक्त कर्म आपातत: समानार्थक शब्द प्रतीत होते हैं । किन्तु वास्तव में इन शब्दों में अति सूक्ष्म अन्तर है। आसक्ति, कर्मों में प्रवृत्ति होने के पश्चात् की स्थिति है। किन्तु सकामता कर्म प्रारम्भ करने से पूर्व की स्थिति है । अत: निष्काम- कर्म अवान्तर फलों पर ध्यान देने की अपेक्षा कर्म करने पर बल देते हैं, फल अवश्यंलभ्य है। जबकि अनासक्ति भाव में कर्म कर्तव्य समझकर ही करने हैं, सकाम होकर नहीं । इन कर्मों का फल भी अदृष्ट है । इस प्रकार कर्मयोग (निष्काम कर्म एवं अनासक्त कर्म के रूप में) वैदिक काल से लेकर अद्यावधि मानव मात्र का पथ प्रदर्शन करते हुए राष्ट्र निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है । जब भी इस कर्मसिद्धान्त की अवहेलना या उपेक्षा होती है राष्ट्र की अवनति सुनिश्चित हो जाती है।

कूटशब्द - कर्मयोग, निष्कामकर्म, अनासक्तकर्म, अवान्तरफल, व्यापार, जिजिविषा, अकर्मण्य, विक्लित्ति, समत्व।

Copyright © 2025 The Author(s): This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution **4.0 International License (CC BY-NC 4.0)**

कर्म का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति में प्रमुख सिद्धान्त है। यजुर्वेद में ऋषि सौ वर्ष पर्यन्त कर्म करते हुए ही जिजिविषा अर्थात् जीवन यापन करने की इच्छा रखने का सन्देश देते हैं –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे [2]।।

यह कर्म शब्द अत्यधिक गूढ़ व रहस्य पूर्ण है। कर्म का तात्पर्य क्रिया से है ' कर्मेति क्रियोच्यते'[3]। और क्रिया शारीरिक मानसिक वाचिक कोई भी हो सकती है। इसी भाव को प्रकट करने हेतु श्री कृष्ण गीता में कह रहे हैं–

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुण:[4] ।

अर्थात इस संसार में कोई व्यक्ति, क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। कर्म चेतनता को प्रमाणित करता है। जब तक मनुष्य में प्राण है, चैतन्य है तब तक वह उठना, बैठना, श्वास प्रश्वास लेना, पलक झपकाना, विचार करना आदि स्वाभाविक कर्म करता ही रहता है। लेकिन क्या केवलमात्र इन कर्मों को करते हुए भी मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है? यदि हां तो इन कर्मों को तो पशु पक्षी कीट पतंग सभी प्राणी करते हैं । फिर गीता में मुमुक्षु के लिए निष्काम या अनासक्त कर्म का उपदेश क्यों किया गया है ? इसे समझने के लिए हमें सर्वप्रथम कर्म का स्वरूप व निष्काम कर्म की अवधारणा को समझना होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म ही है जिसे कर्मयोग भी कहा गया है। बालगंगाधर लोकमान्य तिलक का मत है कि कर्मयोग गीता का मौलिक उपदेश है[5]। कर्मयोगियों का मानना है कि बंधन उस कर्म से नहीं होता जो किया जा रहा है प्रत्युत उस कामना से होता है जिससे वह किया जा रहा है। अत: कर्म करने से पूर्व उसके फल की इच्छा को नष्ट कर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कर्मफल की इच्छा दोषपूर्ण अभिलाषा है ? वास्तव में देखा जाए तो कर्मफल प्राप्ति की इच्छा ही कर्म की प्रेरणा है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते'[6] अर्थात् बिना प्रयोजन के कोई मन्दबुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नही होता, फिर बिना प्रयोजन, बिना फल प्राप्ति की इच्छा के कोई कर्म कैसे कर सकता है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि उपनिषद्दर्शन के काल में कर्म को बन्धनकारी बताया गया था । अर्थात् अशुभ कर्म तो बंधन में फंसाते ही है, शुभ कर्म और भी ज्यादा सांसारिक आकर्षण में बांधते हैं। इसलिए उत्तर वैदिककाल के दार्शनिकों की एक धारा सभी कर्मों को बन्धनकारी मानती थी तथा सभी कर्मों के त्याग की समर्थक थी। लेकिन सामान्य जीवन यापन के कर्मों को लेकर संशय भी था। भोजन, वस्त्र की व्यवस्था करना भी कर्म है। लेकिन प्रश्न था कि क्या ऐसे कर्मों को भी त्यागकर जीवनयात्रा सम्भव है! इस समस्या के समाधान हेतु हमारे पूर्वजों ने सामान्य जीवन यापन व यज्ञ को आवश्यक कर्मों की सूची में डाला और शेष कर्मों के त्याग पर सहमति व्यक्त की। फिर इसी ऊहापोह में एक नई धारा का विकास भी हुआ कि कर्मत्याग नहीं कर्मफल की इच्छा का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इसी को निष्काम कर्म या अनासक्त मार्ग कहा गया। अत: यहाँ सर्वप्रथम यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि वास्तव में निष्काम कर्म से क्या तात्पर्य है।

वस्तुत: निष्काम कर्म का तात्पर्य यह नहीं कि फल की इच्छा छोड़कर कर्म किया जाए। क्योंकि कर्म के फल की इच्छा का त्याग असम्भव है। उसका कारण है कि व्याकरण के अनुसार कर्म या क्रिया के भी दो भाग होते हैं – 1.व्यापार एवं 2.फल[7]। अत: बिना फल के क्रिया का रहना सम्भव नहीं है। जब कर्म या क्रिया की बिना फल के स्वरुपात्मक स्थिति हो ही नहीं सकती तो बिना फल प्राप्ति की इच्छा से कर्म करने का आदेश कैसे हो सकता है ! इस प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता के निष्कामकर्म प्रतिपादक निम्नलिखित श्लोक की सम्यक् विवेचना अपेक्षित है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि[8] ।।

प्रस्तुत श्लोक के 'कर्मणि' पद में विषय–सप्तमी है। अर्थात् तुम्हारा कर्म के विषय में या कर्म करने में ही अधिकार है, फलों पर कोई अधिकार नहीं है। यहां कर्मणि में एकवचन तथा 'फलेषु' पद में बहुवचन का प्रयोग है। अत: बहुवचन के प्रयोग से यह भाव व्यक्त हो रहा है कि एक ही कर्म के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अनेक फल होते हैं। एक कर्म या क्रिया का जो प्रत्यक्ष फल है उसके साथ साथ उस क्रिया का अवान्तर फलों के साथ भी संबंध होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परम्परा सम्बन्ध से सभी फलों के साथ उस एक ही क्रिया का सम्बन्ध बन जाता है । व्यक्ति उनमें से यदि किसी को भी अधिकृत करना चाहने लगे तो इसका यहां निषेध है। जिस प्रकार रोगी व्यक्ति को चिकित्सक ओषधि देता है। चिकित्सक यद्यपि फलेच्छा का त्याग कर कोई भी औषध नहीं दे सकता। वह रोगी को रोग मुक्त करने रूपी फल की इच्छा से ही दवाई देगा। तभी रोगी रोग मुक्त हो पाएगा, अन्यथा नहीं। परन्तु चिकित्सक के लिए उपचार करने रूप कर्म के अवान्तर फल भी है यथा रोगी शुल्क क्या देगा, वह दोबारा उसके पास आएगा या नहीं। दूसरे लोगों को उसकी विशेषज्ञता से परिचित कराएगा कि नहीं इत्यादि; सभी इस ओषधि देने रूपी कर्म के अवान्तर फल हैं। किन्तु निष्काम कर्म करते हुए व्यक्ति को उन अवान्तर फलों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि फलों पर ध्यान कन्द्रित करने से कर्म प्रभावित होते हैं। यदि विद्यार्थी परीक्षा में अंक प्राप्ति–रूपी फल पर ध्यान केन्द्रित कर अध्ययन करता है तो वह चुने हुए महत्वपूर्ण प्रश्नों को ही तैयार करता है जिसके परिणाम स्वरूप व सम्पूर्ण ज्ञान से वञ्चित रह जाता है और कई बार परीक्षा में वे प्रश्न न पूछे जाने पर परीक्षाफल भी उत्तम नहीं होता। परन्तु जो विद्यार्थी ज्ञानार्जन (जो कि अध्ययन का प्रत्यक्ष फल है) के लिए अध्ययन करता है उसे ज्ञान की प्राप्ति तो होती ही है, परीक्षाफल भी उत्तम रहता है । इस प्रकार फलेच्छा से कर्म प्रभावित ना हो इसलिए यहां फलेच्छा का निषेध किया गया है और कहा गया है कि कर्मफल का तू हेतु भी मत बन ' मा कर्मफल हेतुर्भू:'। यहां कर्मफले हेतु: यस्य स कर्मफलहेतु: ऐसा बहुव्रीहि समास मानना चाहिए[9]। इसका अभिप्राय यह है की फल का चिन्तन करने में फल मिलेगा या नहीं मिलेगा? थोड़ा मिलेगा या क्या मिलेगा आदि पर अपनी ऊर्जा लगाने के बजाय कर्म करने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यहां आचार्य शंकर का भी मानना है कि जब व्यक्ति की कर्म के फल में तृष्णा होती है तभी वह कर्म के फल की प्राप्ति का हेतु बनता है। यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात्तदा कर्मफलप्राप्तेर्हेतु: स्या:'[10]। इस प्रकार मन बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा किए हुए शास्त्रविहित कर्मों में और उनके फल में तृष्णा – ममता, आसक्ति, वासना, आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्म फल का हेतु बनना है। अत: परम शान्ति की प्राप्ति के लिए अपने कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान ममता आसक्ति और कामना का सर्वथा त्याग करके करना चाहिए। कर्मफलहेतु पद प्रस्तुत श्लोक में विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त

किया गया है। क्योंकि गीता के अनुसार जो व्यक्ति कर्मनिष्पत्ति में केवल स्वयं ही हेतु नहीं है (वह तो कर्ता नामक केवल एक हेतु है[11]) वह अकेला कर्मफल का हेतु कैसे बन सकता है? जब व्यक्ति के कर्म को ही पञ्चम हेतु 'दैव' प्रभावित कर देता है। जिसके अभाव में व्यक्ति जो करना चाहता है वह कर्म सम्पन्न नहीं कर पाता। तब ऐसी स्थिति में वह अपनी इच्छा से फल कैसे प्राप्त कर सकता है? या फल का हेतु कैसे बन सकता है ? अत: श्रीकृष्ण वहाँ अर्जुन को कह रहे हैं कि तू सर्वसामर्थ्य से कर्म करने पर ध्यान केन्द्रित कर, फल का हेतु बनने का प्रयास मत कर। वह तेरे अधिकार में नहीं है। लेकिन इसका अभिप्राय यह भी नहीं कि लोग अकर्म में प्रीति करने लगें, अकर्मण्य हो जाएं।

अभिप्राय यह है कि अभी कह दिया था कि तेरा कर्म के फल पर कोई अधिकार नहीं है, अत: तू कर्म के फल का हेतु मत बन। जो होना होगा सो हो जाएगा। इस भावना से व्यक्ति में अकर्मण्यता आती है, वह सोचता है जो होना है वही होगा तो मेरे प्रयास करने का क्या लाभ! इस दोष के निवारण हेतु श्री कृष्ण कह रहे हैं कि फल की इच्छा न करने का मतलब यह नहीं कि कोई व्यक्ति अकर्म में प्रीति करने लगे और निष्क्रिय या अकर्मण्य होकर बैठ जाए। क्योंकि किसी भी कर्म या क्रिया का स्वरूप फल के बिना पूर्ण नहीं होता । जिस प्रकार 'पचति' क्रिया पाचक द्वारा पात्राधिश्रयण फूत्कार आदि के साथ साथ ओदन-विक्लित्ति होने पर ही पूर्ण होती है। यही कारण है कि क्रिया के व्यापार और फल दो भाग माने जाते हैं। अर्थात् फल के बिना कर्म के स्वरूप की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह फल भी कर्म स्वरूपात्मक होने के कारण उस क्रिया या कर्म का ही हिस्सा है जो कि कर्म की सिद्धि होने पर स्वयमेव अनायास ही प्राप्त हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति भोजन खाते समय - पेट भर रहा है या नहीं? भूख मिटेगी या नहीं? यह सोचे बिना खाते जाए तो भी पेट तो भरता ही है क्षुधा भी स्वयं शान्त हो जाती है। अत: कर्म करते समय फल के विषय में सोचना व्यर्थ एवं अनावश्यक है जबकि कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार निष्काम कर्म प्रतिपादक उपर्युक्त प्रसिद्ध श्लोक का सार यह है कि 'कर्म करो' कहने का मतलब यह नहीं है कि फल की आशा रखो । और फल की आशा को छोड़ दो इसका अर्थ यह नहीं कि कर्म करना ही छोड़ दो । प्रथम व्यक्ति को फल की आशा को छोड़कर कर्तव्य कर्म अवश्य करने चाहिए किन्तु वह न तो कर्म फल की आसक्ति में फंसे और ना ही कर्म छोड़कर निष्क्रिय या अकर्मण्य बने।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस कार्य को करने से यह फल मिलेगा ऐसा विचार कर कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए, बल्कि यह कार्य करना मेरा धर्म है, कर्तव्य है, ऐसा सोचकर कर्म करना चाहिए। जैसा कि महाभारत में राजसूय यज्ञ के समय युधिष्ठिर ने घोषणा की थी-ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत[12]। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भी इसी भाव से कह रहे हैं कि ' मेरे लिए तीनों लोकों में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो करने योग्य हो और ना ही कोई वस्तु ऐसी है जो पाने योग्य है, तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूं। क्योंकि यदि मैं आलस्यरहित होकर ऐसा नहीं करूंगा तो अन्य लोग भी मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे व अकर्मण्य हो जाएंगे[13]।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, निष्काम कर्म तथा अनासक्त कर्म आपातत: समानार्थक शब्द प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में इन तीनों शब्दों में अति सूक्ष्म अन्तर है। योग की परिभाषा श्रीकृष्ण ने स्वयं द्विविध प्रदर्शित की है 'योग: कर्मसु कौशलम्' तथा 'समत्वं योग उच्यते'। प्रथम परिभाषा 'योग: कर्मसु कौशलम्' (अर्थात् कर्मों में नैपुण्य प्राप्त करना)

को हम लौकिक प्रसंग में क्रियान्वित कर सकते हैं । यह परिभाषा निष्काम कर्म को व्याख्यायित करने में सहायक है। और निष्काम कर्म से तात्पर्य यहां कर्म के अवान्तर फलों की प्राप्ति की कामना किए बिना सकाम होकर कर्म करने से है। क्योंकि कर्म का जो प्रत्यक्ष फल है उसकी प्राप्ति अपरिहार्य है। अत: उस फल की प्राप्ति की इच्छा न करने का न तो यहां निषेध है और न ही उसकी अप्राप्ति सम्भव है । क्योंकि व्यक्ति की जब किसी कर्म में प्रवृत्ति होती है तो वह सप्रयोजन ही होती है। अत एव इस कर्म के व्यापार और फल दोनों पर उसका अधिकार है किन्तु अवान्तर फलों पर कोई अधिकार नहीं है। इसलिए कर्म में निपुणता प्राप्त होने पर प्रत्यक्षफल शत प्रतिशत प्राप्त होगा, अन्यथा जितना प्रयास किया जाएगा उतना ही प्राप्त होगा। दूसरी परिभाषा योग शब्द की 'समत्वं योग उच्यते' प्राप्त होती है। इसे आध्यात्मिक प्रसङ्ग में व्याख्यायित करना चाहिए जोकि अनासक्त कर्म की प्रतिनिधि व्याख्या में सहायक है। यह भी कर्मयोग के अन्तर्गत है। किन्तु यहां योग का तात्पर्य समत्वभाव या अनासक्ति भाव से है। क्योंकि अनासक्त कर्म वे हैं जहाँ कर्तव्य या धर्म समझकर कर्म करने में प्रवृत्ति हो रही है। वस्तुत: आसक्ति एवं अनासक्ति तथा सकाम एवं निष्काम कर्मों में सूक्ष्म एवं मौलिक भेद भी है। आसक्ति, कर्मों में प्रवृत्ति होने के पश्चात् की स्थिति है। किन्तु सकामता कर्म प्रारम्भ करने से पूर्व की स्थिति है। अत: निष्काम- कर्म अवान्तर फलों पर ध्यान देने की अपेक्षा कर्म करने पर बल देते हैं, फल अवश्यंलभ्य है। जबकि अनासक्ति भाव में कर्म कर्तव्य समझकर ही करने हैं, सकाम होकर नहीं । इन कर्मों का फल भी अदृष्ट है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति कर्म फलनिष्पत्ति में अकेला स्वयं ही हेतु नहीं होता अपितु व्यक्ति के उस कर्मफल को अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ व दैव ये पांच तत्व प्रभावित करते हैं[14]। अत: अनासक्त कर्म में फल की इच्छा का सर्वथा परित्याग अपेक्षित है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहां 'यज्ञ से स्वर्ग मिलेगा' इस भावना से यज्ञ करने का निषेध है । कर्तव्य समझकर ही कर्म करना श्रेयस्कर है, फिर चाहे सफलता मिले अथवा असफलता मिले। अत: आसक्ति का परित्याग कर सिद्धि एवं असिद्धि में समत्वभावपूर्वक, योगस्थ होकर कर्म करते रहना ही अनासक्त कर्मयोग है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ, प्राचीन काल से प्रवर्तित इस कर्मसिद्धान्त या कर्मयोग में भी दो प्रकार से कर्म का स्वरूप निर्धारित होता है 1.निष्काम कर्म एवं 2.अनासक्त कर्म। ये दोनों ही कर्मयोग के अन्तर्गत सूक्ष्म मौलिक भेद के साथ वर्णित हैं। यह कर्मयोग (निष्काम कर्म एवं अनासक्त कर्म के रूप में) वैदिक काल से लेकर अद्यावधि मानव मात्र का पथ प्रदर्शन करते हुए राष्ट्र निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है । जब भी इस कर्मसिद्धान्त की अवहेलना या उपेक्षा होगी राष्ट्र की अवनति सुनिश्चित है। आजकल लोगों की कर्म करने की प्रवृत्ति, कर्तव्यकेन्द्रित न होकर अवान्तर फलों की प्राप्ति पर केन्द्रित हो गई है। मोहनदास करमचन्द गांधी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में उल्लेख करते हैं कि समाज में डॉक्टर ,इंजीनियर , अधिवक्ता आदि पेशावर लोग अपना कर्तव्य कर्म न समझकर, समाज सेवा की भावना से कार्य न करके धनोपार्जन के लिए अपनी विद्याओं का दुरुपयोग कर रहे हैं। यह हमारी संस्कृति नहीं है[15]। किंतु यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अवान्तर फलों की चिन्ता छोड़ कर (प्रेरणापूर्वक या सकाम होकर ही सही) अथवा अपना कर्तव्य समझकर अपने अपने कर्मों में प्रवृत्त रहे तो समाज का अत्यधिक लाभ होगा। और इस प्रकार अपने अपने कर्म में अभिरत लोग संसिद्धि को प्राप्त करेंगे – ' स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:'[16] ।

सहायक–ग्रन्थसूची

1. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, सू.546, बालमनोरमा टीका,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी–2003
2. यजुर्वेद, अ. 40, मं.2, सं. 1992, परोपकरिणी सभा अजमेर
3. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, सू.546, बालमनोरमा टीका,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी–2003
4. श्रीमद्भगवद्गीता, अ.3, श्लो.5, सं. वि.सं. 1993, गीताप्रेस गोरखपुर
5. तिलक लोकमान्य बालगंगाधर, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, सं. 1933, पुणे
6. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लो. 12, पृ.5, सनातनधर्म यन्त्रालय मुरादाबाद, 1978 वि.सं.
7. कौण्डभट्ट् अचार्य, वैयाकरणभूषणसार, धात्वर्थनिर्णय, का. 2
8. श्रीमद्भगवद्गीता, अ.2, श्लो.47, सं. वि.सं. 1993, गीताप्रेस गोरखपुर
9. गीता में आत्मप्रबन्धन, पृ. 175, सं. 2012, परिमल प्रकाशन, दिल्ली
10. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य,अ.2, श्लो.47
11. वही
12. महभारत, वनपर्व, गीताप्रेस गोरखपुर
13. श्रीमद्भगवद्गीता, अ.3, श्लो.22 सं. वि.सं. 1993, गीताप्रेस गोरखपुर
14. श्रीमद्भगवद्गीता, अ.18, श्लो.14 सं. वि.सं. 1993, गीताप्रेस गोरखपुर
15. गान्धी मोहनदास कर्मचन्द,हिन्दस्वराज सं.2009, नवजीवन प्रकाशन
16. श्रीमद्भगवद्गीता, अ.18, श्लो.4 सं. वि.सं. 1993, गीताप्रेस गोरखपुर